International Journal of Hindi Research
ISSN: 2455-2232, Impact Factor: RJIF 5.22
www.hindijournal.com
Volume 2; Issue 2; March 2016; Page No. 40-42

साहित्यिक पत्रकारिता और हिन्दी साहित्य के विकास में 'हंस' पत्रिका का योगदान

डॉ. संगीता गोगिया[1], डॉ. नन्दकिशोर मौर्य[2]

[1] विभाग प्राध्यापक हिन्दी, बाबू शोभाराम राजकीय कला महाविद्यायालय, अलवर, राजस्थान, भारत

[2] विभाग प्राध्यापक हिन्दी, गौरीदेवी राजकीय महिला महाविद्यालय, अलवर, राजस्थान, भारत

सारांश

1986 में 'हंस' पत्रिका का पुनर्प्रकाशन हिन्दी साहित्यिक पत्रकारिता और हिन्दी साहित्य के लिए एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। साहित्य और साहित्यिक पत्रकारिता के लिए यह समय बड़ा निर्णायक और नाजुक था। साहित्य के लिए यह रचनाकारों की अस्सी की पीढ़ी की पहचान का समय था और साहित्यिक पत्रकारिता के लिए यह अत्यंत संकट का दौर था। बड़े–बड़े प्रकाशन संस्थानों और व्यावसायिक घरानों की पत्रिकाएं 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' और 'धर्मयुग' अवसान की ओर थीं, 'कल्पना', 'नई कहानियां', 'कहानी' और 'दिनमान' जैसी पत्रिकाएं विदा ले चुकी थीं। यह वही दौर था जब दूरदर्शन के धार्मिक और तिलस्मी ऐय्यारी धारावाहिकों में भारतीय जनमानस मग्न था। बाजार में लग्जरी उत्पादों की आवक आम होने लगी थी, महत्त्वाकांक्षाएं बढ़ रही थी। राजनीतिक रूप से भी नए समीकरण बन रहे थे। कुल मिलाकर साहित्य और समाज का परिदृश्य संवेदनशील था।

ऐसे समय में 'हंस' ने साहित्य में लोगों के विश्वास को बनाये रखने का काम किया। घनघोर मनोरंजन के इस दौर में भी साहित्यिक सरोकारों के प्रति लोगों को सचेत करने का काम 'हंस' ने किया। दूरदर्शन की चकाचौंध और प्रिंट मीडिया के विदाई के दौर में 'हंस' ने साहित्यिक पत्रकारिता की लौ को जलाए रखा और हिन्दी पट्टी के बौद्धिक परिवेश को गड्डमड्ड होने से बचाया।

मूल शब्दः हंस, पत्रिका, पत्रकारिता, रचना, कहानी, साहित्य, समकालीनकहानी, 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'धर्मयुग', 'कल्पना', 'नई कहानियां', 'कहानी', 'दिनमान'

प्रस्तावना

1986 में 'हंस' पत्रिका का पुनर्प्रकाशन हिन्दी साहित्यिक पत्रकारिता और हिन्दी साहित्य के लिए एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। साहित्य और साहित्यिक पत्रकारिता के लिए यह समय बड़ा निर्णायक और नाजुक था। साहित्य के लिए यह रचनाकारों की अस्सी की पीढ़ी की पहचान का समय था और साहित्यिक पत्रकारिता के लिए यह अत्यंत संकट का दौर था। बड़े–बड़े प्रकाशन संस्थानों और व्यावसायिक घरानों की पत्रिकाएं 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' और 'धर्मयुग' अवसान की ओर थीं, 'कल्पना', 'नई कहानियां', 'कहानी' और 'दिनमान' जैसी पत्रिकाएं विदा ले चुकी थीं। यह वही दौर था जब दूरदर्शन के धार्मिक और तिलस्मी ऐय्यारी धारावाहिकों में भारतीय जनमानस मग्न था। बाजार में लग्जरी उत्पादों की आवक आम होने लगी थी, महत्त्वाकांक्षाएं बढ़ रही थी। राजनीतिक रूप से भी नए समीकरण बन रहे थे। कुल मिलाकर साहित्य और समाज का परिदृश्य संवेदनशील था।

ऐसे समय में 'हंस' ने साहित्य में लोगों के विश्वास को बनाये रखने का काम किया। घनघोर मनोरंजन के इस दौर में भी साहित्यिक सरोकारों के प्रति लोगों को सचेत करने का काम 'हंस' ने किया। दूरदर्शन की चकाचौंध और प्रिंट मीडिया के विदाई के दौर में 'हंस' ने साहित्यिक पत्रकारिता की लौ को जलाए रखा और हिन्दी पट्टी के बौद्धिक परिवेश को गड्डमड्ड होने से बचाया।

इसी समय हिन्दी कथाकारों की अस्सी की पीढ़ी अपनी पूरी रचनात्मक ऊर्जा से सृजनरत थी। पर साहित्यिक पत्रिकाएं बंद हो रही थीं। ऐसे समय में 'हंस' के पुनर्प्रकाशन ने हिन्दी कथा साहित्य, विशेष रूप से हिन्दी कहानी के लिए नवजीवन का काम किया। इस समय के कहानीकारों की पीढ़ी के निर्माण और उत्थान में 'हंस' ने केन्द्रीय भूमिका का निर्वाह किया। पंकज विष्ट ने 'हंस' के योगदान का मूल्यांकन करते हुए कहा है "पिछले ढाई दशक से हंस ने हिन्दी के कथा साहित्य की दिशा को निर्धारित किया है।"

आज यदि हिन्दी कहानी अपनी सशक्त और केन्द्रीय भूमिका में है, और अपनी प्रासंगिकता बनाये रखने में सक्षम है तो इसका श्रेय 'हंस' को ही है। कथाकार–संपादक अखिलेश के शब्दों में यदि कहें "बीसवीं सदी के आखिरी डेढ़ दशक तक की ज्यादातर प्रमुख कहानियाँ 'हंस' में छपीं और उस दौर में उभरने वाले अधिसंख्य लेखकों की कीर्ति में हंस की अविस्मरणीय भूमिका है। दूसरी तरफ निर्मल वर्मा, मनोहर श्याम जोशी, शैलेश मटियानी, दूधनाथ सिंह, काशीनाथ सिंह जैसे अनेक वरिष्ठ लेखकों की हंस में छपी कहानियां विख्यात हुई... सभी जानते हैं कि हिन्दी में सशक्त कथाकार उदय प्रकाश, शिवमूर्ति, संजीव, अरुण प्रकाश, चंद्रकिशोर जायसवाल आदि की बेहतरीन कहानियां हंस में शाया हुई।"

चाहे दलित विमर्श से संबंधित कहानियां हों, चाहे स्त्री विमर्श से संबंधित, चाहे भारतीय मुलसमानों के जीवन संदर्भों को खोजने से संबंधित कहानियां हों, या संघर्षशील आमजीवन की कहानियां सभी को 'हंस' में स्थान मिला है। 'हंस' के इस अवदान को नजर अंदाज नहीं किया जा सकता। हंस के पुनर्प्रकाशन के बाद वह दीर्घजीवी न होता तो आज हिन्दी कहानी पिछड़ी और दिशाहीन होती। "हिन्दी कहानी को जिंदा रखने और 'बोल्डनेस' को डिफेंड करने में राजेन्द्रजी की अपूर्व भूमिका है। कुछ बोल्ड कहानियों की उन्होंने नारी मुक्ति से जोड़कर व्याख्या की।"ङ पिछले पचीस वर्षों के कहानी साहित्य को देखें तो स्त्री कथाकारों की संख्या बहुत बढ़ी है। इसका श्रेय भी 'हंस' को ही जाता है। "जितनी कथा लेखिकाओं को 'हंस' प्रकाश में लाया, उनकी गिनती मुश्किल है।"[4]

'हंस' के छब्बीसवें वर्ष के पहले अंक में 'हंस' के 25 बरसों के सफर पर टिप्पणी करते हुए 'तद्भव' पत्रिका के संपादक और कथाकार अखिलेश ने लिखा है– "हंस ने हिन्दी साहित्य का एजेंडा बदल दिया।"5 तो कवि–चिंतक अशोक वाजपेयी ने कहा है– "दर असल 'हंस' को सिर्फ एक पत्रिका नहीं, व्यापक और गहरे अर्थों में एक साहित्यिक–सामाजिक अभियान के रूप में देखना चाहिए।"[6] दोनों कथनों की गहराई से पड़ताल करने पर

यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि 'हंस' महज एक साहित्यिक पत्रिका नहीं है, वह हिन्दी साहित्य की एक परंपरा है। इस पत्रिका ने हिन्दी साहित्य, लेख और पाठक का मिजाज बदला है। उनकी जरूरत और जिद को बदला है। "उसने लगातार बहुत सारे नए मुद्दे, विचार और विश्लेषण के लिए उठाए हैं और कुछ पुराने मुद्दों पर नए ढंग से सोचने का उपक्रम और उसके लिए मंच विकसित किया है।"[7]

'दलित, स्त्री, पिछड़े और अल्पसंख्यक समाजों को आज साहित्य में जो जगह मिली है। उसके पीछे अकेले 'हंस' का योगदान है। 'हंस' की वजह से ही ये समाज और साहित्य के मुख्य सरोकार बने हैं। बिना सनसनी फैलाये 'हंस' ने इस आंदोलनों को खड़ा किया और केन्द्रीय जगह दिलवायी। पुनः अशोक वाजपेयी के शब्दों में ही– "इसे भी निस्संकोच स्वीकार किया जाना चाहिए कि हिन्दी में नारी–विमर्श और दलित विमर्श की आज जो जगह है, लगभग केन्द्रीय, उन्हें वह दिलवाने में 'हंस' ने बड़ी भूमिका निभाई। ..स्त्री–पुरुष संबंध, अपनी नियति के लिए अपनी जिम्मेदारी, सामाजिक नैतिक व्यवस्थाओं की हिंसा और क्रूरता, समाज और राजनीति तथा उसकी संस्थाओं में मूलबद्ध अन्याय की संरचना, परिवारों के विघटन की दारुणता आदि अनेक ऐसे विषय हैं जिन्हें 'हंस' में प्रकाशित रचनाओं और वैचारिक सामग्री ने प्रखरता और मार्मिकता से छुआ, उभारा और खोजा है।"[8]

'हंस' को पुनर्जीवित करने और उसकी गरिमा को लौटाने के लिए राजेन्द्र यादव ने जो त्याग किया या खोया है वह भी अविस्मरणीय है। इन पच्चीस वर्षों में 'हंस' के संपादकीयों के बिना राजेन्द्र यादव का अपना रचनात्मक कुछ भी नहीं है। 'हासिल' जैसी 2–3 कहानियों के अलावा वे कुछ भी नहीं कर पाये। सीमित आर्थिक साधन अपने अकेले ही संघर्ष और प्रयासों से वे 'हंस' को यहां तक लाए हैं। 'उन्होंने पत्रिका की सफलता के लिए अपनी पूरी बौद्धिक ताकत, शोहरत और संपर्क–संपन्नता को झोंक दिया था।"[9] कई बार निराश हुए, कई बार परास्त हुए, थके हारे पर 'हंस' को जीवित रखा।

इस बीच उनके व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन में भी बहुत कुछ बना– बिगड़ा और हिन्दी साहित्य में भी बहुत कुछ बिगड़ा बना। कई पत्रिकाएं निकाली, बंद हुई, फिर निकली पर 'हंस' की बराबरी कोई और पत्रिका नहीं कर पायी। इसके पीछे राजेन्द्र यादव की अथक साधना ही थी। एक संपादक के रूप में उनमें लेखकों को जुड़ा लेने की अद्‌भुत क्षमता है। वे उन लेखकों को भी लिखने को बाध्य कर देते हैं जो उन्हें पसंद नहीं करते या उनसे सहमत नहीं होते। उनके इस प्रयास को रेखांकित करते हुए अशोक वाजपेयी ने लिखा है "वे संपादन प्रकाशन में इस कदर रम गए कि उन्होंने रचनात्मक लेखन लगभग बंद कर दिया। पिछले पच्चीस बरसों में ये अपनी बौद्धिक–वैचारिक सक्रियता के लिए ही उल्लेखनीय हैं जिसका अधिकांश 'हंस' के उनके संपादकीयों में जगह पाती रही है। यह भी कहा जा सकता है कि शायद ही इस दौरान किसी और संपादक या पत्रिका के संपादकीय इतने लोकप्रिय और विचारोत्तेजक रहे हैं जितने हंस के। हिन्दी में वह इस समय भी अकेली पत्रिका है जो जितना रचनाओं के लिए पढ़ी जाती है उतना ही अपने संपादकीयों के लिए।"[0]

कहने की आवश्यकता नहीं है कि अनेक असहमतियों के बावजूद राजेन्द्र यादव और 'हंस' हिन्दी के बौद्धिक जगत की अनिवार्य जरूरत हैं जिससे हिन्दी जगत चाहकर भी बचना नहीं चाहता है।

राजेन्द्र यादव ने हंस के माध्यम से हिन्दी के पाठकों का मन और विवेक बदला और विकसित किया है। वे अपने पाठकों को अपनी बात कहने का पूरा अवसर देते हैं। यह 'हंस' के लिए जनतांत्रिक पत्रिका होने का प्रमाणहै। अशोक वाजपेयी के शब्दों में 'हंस' का संपादक अपने संपादकीयों में दूसरों को कठघरे में खड़ा करने या उनसे जवाब तलब करने से बाज नहीं आता तो 'हंस' के कई पाठक उसे भी जब तब कठघरे में खड़ा करने से नहीं चूकते।" 'हंस' की इस लोकतांत्रिक छवि को स्पष्ट करते हुए 'जनसत्ता' हिन्दी दैनिक के संपादक ओम थानवी ने कहा है "उनके यहां पाठकों के पत्रों में भी विचार का पुट मिलता है। पत्रों के स्तंभ 'अपना मोर्चा' को वे पूर्ववर्ती कथा पत्रिकाओं के मुकाबले बहुत जगह देते हैं। यह उनके लोकतांत्रिक होने का प्रमाण है। वैचारिक आग्रह रखते हुए भी राजेन्द्र जी में विचारधाराओं से बंधे लेखकों–संपादकों वाली जकड़न नहीं है। उनमें खुलापन है और वे उदार भी हैं।"

अपनी वैचारिकता के लिए 'हंस' अपनी समकालीन पत्रिकाओं से हमेशा अलग खड़ी रहती है। 'हंस' के विचार का विकास हिन्दी साहित्य के लिए एक महत्त्वपूर्ण घटना है। 'समयांतर' पत्रिका के संपादक पंकज बिष्ट के शब्दों में "राजेन्द्र यादव की साहित्यिक समझ, बौद्धिक–प्रखरता, सामाजिक प्रतिबद्धता और सबसे बड़ी बात वैचारिक उदारता कई मामलों में इन प्रतिष्ठित व्यावसायिक पत्रिकाओं के संपादकों से बीस ही थी।"

'हंस' के माध्यम से राजेन्द्र यादव ने विचारशीलता के साथ सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और अन्य समसामयिक मुद्दों को प्रमुखता से उठाया है। वैचारिक मुद्दों पर 'हंस' ने निरंतर एक स्वस्थ बहस का माहौल दिया। सांप्रदायिकता के खिलाफ, दलितों के प्रश्न पर हंस ने बहुत गंभीर बहसें आयोजित कीं, खासकर उनके संपादकीय एक विशिष्ट तेवर लिए होते हैं। राजेन्द्र यादव से अनगिनत मुद्दों पर घोर आपत्ति और असहमति रखने वाली कथाकार सुधा अरोड़ा भी उनके लेखन की अहमियत को नहीं नकार पातीं। उन्होंने एक साक्षात्कार में कहा है– "हम सहमत हों या असहमत, पर उनके लिखे हुए को नजर अंदाज नहीं कर सकते। दरअसल मेरी तरह हजारों पाठक हैं जो हंस के संपादकीय के लिए ही हंस पढ़ते हैं।"[4]

आज भी 'हंस' एक पठनीय पत्रिका है। उसने हिन्दी में एक जागरूक पाठक समाज विकसित किया है। अशोक वाजपेयी जैसे धुर विरोधी विचार के चिंतक लेखक ने 'हंस' के पच्चीस बरसों के सफर पर विचार करते हुए स्पष्ट लिखा है– "यह नोट करना सुखद है कि पच्चीस बरसों तक चलने के बाद भी 'हंस' एक पठनीय पत्रिका है, वह आज भी प्रासंगिक बनी हुई है।"[5] वास्तव में यह आज हिन्दी की 'मुख्यधारा की पत्रिका है। 'पहल' पत्रिका के बंद हो जाने के बाद 'हंस' की चुनौतियां बढ़ी हैं, दायित्व का क्षेत्र और अधिक विस्तृत हो गया है।

संदर्भ सुचि

1. पंकज बिष्टः विमर्शो के दलदल में खड़ा हंस, हंस– अगस्त 2011ः सं. राजेन्द्र यादव; पृष्ठ 103.
2. अखिलेशः हंस में अब वो रोनक नहीं, हंस– अगस्त 2011ः सं. राजेन्द्र यादव; पृष्ठ 104.
3. रविन्द्र कालियाः जैसे उनके दिन बहुरे, हंस– अगस्त 2011ः सं. राजेन्द्र यादव; पृष्ठ 97.
4. रविन्द्र कालियाः जैसे उनके दिन बहुरे, हंस–अगस्त 2011ः सं. राजेन्द्र यादव, पृष्ठ–97.
5. अखिलेशः हंस में अब वो रोनक नहीं, हंस– अगस्त 2011ः सं. राजेन्द्र यादव; पृष्ठ 105.
6. अशोक वाजपेयीः इस तरह पच्चीस बरस, हंस– अगस्त 2011ः सं. राजेन्द्र यादव; पृष्ठ– 94.
7. अशोक वाजपेयीः इस तरह पच्चीस बरस, हंस– अगस्त 2011ः सं. राजेन्द्र यादव; पृष्ठ–94.
8. अशोक वाजपेयीः इस तरह पचीस बरस, हंस– अगस्त 2011ः सं. राजेन्द्र यादव; पृष्ठ 94.

9. पंकज विष्टः विमर्शो के दलदल में खड़ा हंस, हंस– अगस्त 2011ः सं. राजेन्द्र यादव, पृष्ठ– 102.
10. अशोक वाजपेयीः इस तरह पचीस बरस, हंस– अगस्त 2011ः सं. राजेन्द्र यादव; पृष्ठ–95.
11. अशोक वाजपेयीः इस तरह पच्चीस बरस, हंस– अगस्त 2011ः सं. राजेन्द्र यादव; पृष्ठ 95.
12. ओम थानवीः कथा के पार, हंस– अगस्त 2011ः सं. राजेन्द्र यादव; पृष्ठ– 99.
13. पंकज विष्टः विमर्शो के दलदल में खड़ा हंस, हंस– अगस्त 2011ः सं. राजेन्द्र यादव; पृष्ठ 102.
14. सुधा अरोड़ाः साक्षात्कारः राजेन्द्र यादव पर केन्द्रितः पाखी; सं. प्रेम भारद्वाजः पृष्ठ–144–145.
15. अशोक वाजपेयीः इस तरह पचीस बरस, हंस– अगस्त 2011ः सं. राजेन्द्र यादव; पृष्ठ 95.